बीसवीं सदी के हिन्दी महिला कथा-साहित्य में नारी का पारिवारिक परिवेश

बीज शब्द : *बीसवीं शताब्दी का साहित्य, महिला लेखन, महिला लेखिकाएँ, परिवाद, परिवार*

ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net

A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research

शोध संचयन

परिवार ही वह महत्वपूर्ण इकाई है जो व्यक्ति तथा समाज के अंतर्सम्बन्धों की स्थिति तय करता है। सामाजिक रूपरेखीय ढाँचा पारिवारिक दृष्टिकोण से प्रभावित रहता है। अत: भारतीय नारी के संदर्भ में उसके पारिवारिक परिवेश का अधययन एक महत्वपूर्ण शोध का विषय है। जो कि प्रस्तुत लेख का भी विषय है। बीसवीं सदी में देश व दुनिया में हो रहे नारी जागरण से हिन्दी की कथा लेखिकाएँ भी प्रभावित होती रही हैं और उन्होंने भारतीय नारी को केन्द्र में रखकर कुछ अच्छी रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। प्रस्तुत लेख उन्हीं रचनाओं के आधार पर भारतीय नारी एवं उसकी पारिवारिक परिस्थितियों को समझने का प्रयास है।

अर्चना सिन्हा
शोधछात्रा

डॉ. कमल प्रभा कपानी
(हिन्दी विभाग)
सरकारी स्वंशासित महाविद्यालय

परिवार समाज का वह अभिन्न अंग है जिस पर सामाजिक जीवन की नींव टिकी होती है। सामान्यत: दो (स्त्री-पुरूष) या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर परिवार बनाते हैं तथा अनेकानेक परिवार मिलकर समाज। इसलिए किसी समाज की रूपरेखा किस प्रकार की होगी, यह कहीं-न-कही वहाँ उपस्थित पारिवारिक ढाँचे पर निर्भर करती है। दूसरी ओर व्यक्ति भी निज के पालन-पोषण तथा अन्य दायित्वों के निर्वहन हेतु परिवार पर ही निर्भर करता है। इस दृष्टि से परिवार ही वह मजबूत आधार है जो ना व्यक्ति को मात्र गढ़ता है बल्कि समाज से उसे जोड़ता भी है। अत: परिवार का यह उत्तरदायित्व है कि वह अपने प्रत्येक सदस्य चाहे वह स्त्री हो या पुरूष उसकी उन्नति में सहयोग दे तथा प्रगति के समान अवसर उपलब्ध कराए जिससे व्यक्तियों का सर्वांगिण विकास सम्भव हो सके तथा एक स्वस्थ एवं संतुलित समाज का निर्माण हो।

स्त्री तथा पुरूष दोनों ही परिवार के महत्वपूर्ण सदस्य हैं। ऐसे में परिवार के भीतर दोनों को एक समान सुविधाएँ तथा अवसर प्राप्त होने चाहिए। पारिवारिक परिवेश सहिष्णु तथा उदात्त होगा तभी तो समाज में भी सहिष्णुता तथा उदात्ता जैसी उच्च मानवीय भावनाओं का संचार होगा। परन्तु इस परिवार नामक संस्था में विशेषकर भारतीय परिवेश में क्या स्त्री को वह अधिकार एवं दर्जा प्राप्त हो पाया है कि वह भी पुरूष के समान अपने गौरव की रक्षा करते हुए परिवार एवं समाज में उचित व उपयोगी स्थान प्राप्त कर सके, यह आज के इस अत्याधुनिक दौर में भी एक महत्वपूर्ण तथा विचारनीय प्रश्न बनकर हमारे समक्ष उपस्थित है।

भारतीय नारी के संदर्भ में परिवार की भूमिका को समझने में तब विशेष कठिनाई नहीं होती जब कात्यायनी जैसी वरिष्ठ लेखिका प्रश्न उठाती हैं कि 'क्यों बचा रहे परिवार?................ जिस तरह हर सम्पत्ति-साम्राज्य लूट, ठगी और अपराध की बुनियाद पर टिका होता है, ठीक उसी तरह हर परिवार का ताना-बाना स्त्री की गुलामी और अस्मिता-विहीनता की बुनियाद पर खड़ा है-चाहे वह मध्य-युगीन पितृसत्तात्मक ढाँचेवाला सामंती संयुक्त परिवार हो या पूँजीवादी ढंग से संगठित परिवार, परिवार वर्ग-निरपेक्ष संस्था नहीं। परिवार का प्यार मूल्य-मुक्त प्यार होता ही नहीं। पूर्ण समानता और स्वतंत्र अस्मिता की चाहत रखने वाली कोई स्त्री भला क्यों चाहेगी कि बचा रहे परिवार ?'[1]

समाज में स्त्री-पुरूष संबंधी भेदभाव का आरंभ परिवार

से ही होता है। कन्या-शिशु के जन्म से ही यह अंतर दिखाई देने लगता है। 'अक्सर यह देखा जाता है कि एक समान प्रसव-काल और प्रसव-पीड़ा के बाद एक स्त्री जब एक कन्या को जन्म देती है तो वह अपमान की भागीदार बनती है और उस नन्ही बच्ची को देख कर पिता के होठों की मुस्कान ललाट की सिकुड़न में बदल जाती है। बेटा जन्म ले तो सोहर गाये जाते हैं पर बेटी के जन्म से माहौल गमगीन हो जाता है।'[2] यही कारण है कि स्वयं जन्म देने वाली माँ भी पुत्र की ही कामना करती है और यदि उसे बेटी पैदा हो जाए तो उसकी चाहत बच्ची के प्रति नफरत में बदल जाती है। 'चार बहनें शीशमहल की' (नासिरा शर्मा) तथा 'तुम किसकी हो बिन्नी?' (मैत्रेयी पुष्पा) कहानियों की माएँ इसका उदाहरण हैं- 'उसके नयी पैदा लड़की से एकाएक अजीब नफरत-सी होने लगी। उसे लगा कि एक खुशहाल माहौल को इस लड़की ने आकर खराब कर दिया है।'[3]

दूसरी ओर, पुत्र को जन्म देना स्त्री के लिए किसी सौभाग्य से कम नहीं। उपन्यास 'आवां' (चित्रा मुद्गल), में पति की मृत्यु पर माँ उर्मिला का यह सगर्व कथन इसी की पुष्टि करता है-'न मैं बाँझ हूँ न छूंछी। कुल दीपक बेटा जना है मैंने बेटा। जना है तो भला किस दिन के लिए जना है? बोल?'[4] बेटे को कुल का दीपक तथा अंतिम संस्कार करने का अधिकारी माना जाता है। हिन्दुओं की इस संकीर्णता के दर्शन कृष्णा सोबती के उपन्यास 'ऐ लड़की' में भी हुए हैं जब बेटी के पक्ष में बोलने वाली अमू भी अंतिम समय में बेटे की राह देखती है- 'लड़की कुल की सरदारी बेटियों को नहीं जाती। सगुण शास्त्र से तुम्हारा भाई ही पगड़ी बाँधेगा।'[5]

लड़की को पराया धन जबकि लड़के को वंश-बेल बढ़ाने वाला माना जाता है। 'दहलीज' (नासिरा शर्मा) कहानी की दादी का कहना है- 'याद रखो, नस्ल बेटों से चलती है, यह लड़कियाँ तो मुँडेर पर बैठी गौरैया है, अपने बसेरे को उड़ जाएँगीं, पलटकर नहीं आएँगी। बुरे वक्त का साथ लड़का होता है चाहे काना ही क्यों न हो।'[6] इस तुच्छ धारणा के चलते ही लड़कियों को पिता के घर में अपनी प्रतिभा विकसित करने का अवसर भी प्रायः नहीं मिलता। साथ ही उन्हें यह भी सिखाया जाता है कि 'बेटियों का अपने बाप या नानी के घर का ज्यादा मोह नहीं पालना चाहिए'[7] जैसा कि मृणाल पांडे के उपन्यास 'हमको दिया परदेश' की स्त्री-पात्र हीरा दी कहती हैं। यही नहीं लड़कियों को अपने ससुराल में कैसे रहना है, बकायदा उसकी पूरी 'ट्रेनिंग' दी जाती है। 'लड़कियाँ' (मृणाल पांडे) कहानी की मँझली लड़की बताती है- 'मुझसे कहा गया कि पैर छुओ, ऐसे नहीं, ऐ ऽ से ऽ अरे, लड़की का जन्म है और जिदंगी भर झुकना है तो सीख ही लो।'[8]

ऐसे क्षुद्र मनोवृत्ति वाले परिवेश में यदि स्त्री की चेतना का विकास नहीं हो पाता तो इसमें आश्चर्य कैसा? यहाँ पारिवारिक पृष्ठभूमि ही स्त्री की चेतना को उसके बालपन से दबाने का कार्य करती है और ऐसा करने वाली स्वयं स्त्रियाँ ही होती हैं। इसके लिए वह व्यवस्था उत्तरदायी है जो स्त्री की स्वतंत्र विचार-दृष्टि को विकसित होने का अवकाश नहीं देती।

नारी के पास अपने जीवन से संबंधित निर्णय लेने का अधिकार भी अधिकतम परिवारों में सुरक्षित नहीं है। ना केवल पति के घर में बल्कि पिता के घर में भी। विवाह के संबंध में एक प्रचलित धारणा यह है कि 'मरद की कमाई देखी जाती है औरत की सूरत.........'[9] इसीलिए लड़की की इच्छा जानना जरूरी नहीं समझा जाता। 'दृष्टिदोष' (उषा प्रियंवदा), 'टाइपराइटर' (विभा रानी), 'खुदा की वापसी' (नासिरा शर्मा), 'दिलआरा' (नासिरा शर्मा) इत्यादि कहानियों की पढ़ी-लिखी नायिकायें भी अपने अभिभावकों द्वारा तय किए गए लड़के से ब्याह करने को विवश हैं। इसी संदर्भ में ममता कालिया के लघु उपन्यास 'प्रेम कहानी' का यह संवाद महत्वपूर्ण है जिसमें यशा बताती है- 'तू अपने घर की इकलौती औलाद है जया, तुझे क्या पता, चार लड़कियों के बाप को अपनी बेटियाँ ब्याहने की कैसी उतावली रहती है। वे रिश्ता ढूँढते समय यह नहीं देखते कि रिश्ता लड़की के लायक है या नहीं, वे तो गिनती पूरी करते हैं।'[10] कहीं-कहीं अपने निजी लाभ के लिए भी बेटी का व्याह होते देखा जाता है। जैसा कि, दीप्ति खण्डेलवाल के उपन्यास 'प्रतिध्वनियाँ' का नीलकांत मेहता अपनी बेटी का ब्याह जबरदस्ती अपने प्रतिद्वंद्वी के पुत्र से करवाता है, यह जानते हुए भी कि वह किसी और से प्रेम करती है।

ब्याह के उपरान्त तो नारी की दशा और भी सोचनीय हो जाती है जब पति व उसके परिवार की इच्छाओं को पूर्ण करना ही उसका ध्येय मान लिया जाता है। ऐसे में उसकी अपनी अभिलाषा-अभिरूचि उपेक्षित होने लगती है। स्वतंत्रतापूर्व की कथाकार उषा देवी मित्रा तथा सुभद्राकुमारी चौहान की कथाओं में ऐसे उदाहरण भरे पड़े है। उपन्यास 'पिया' (उषा देवी मित्रा) की यमुना को रंगीन वस्त्र बहुत पसन्द थे, परन्तु उसके पति का कहना है-'दिन रात बनाव श्रृंगार करने का काम वेश्याओं का है घर की स्त्रियों का नहीं। तुमसे पूछता हूँ भले घर की स्त्रियों को कहीं यह सब अच्छा लगता है? मैं पसंद नहीं करता ऐसी बातें।'[11] इसलिए वह सादे वस्त्र पहनती है। इसी तरह उपन्यास 'जीवन की मुस्कान' (उषा देवी मित्रा) की सास सत्यभामा को अपनी बहू का गाना-बजाना खटकता है और वह उलाहना देती है-'गाने-बजाने के लिए ज़िंदगी पड़ी है। बाप के घर चाहे कुछ किया हो,

किन्तु यहाँ यह सब न चलेगा।'[12] 'मंझली रानी' (सुभद्रा कुमारी चौहान) की 'तारा' को भी गाने का शौक है किंतु ससुराल में इसकी मनाही है। सुभद्रा जी ने अपनी कहानियों 'थाती', 'ग्रामीण ाा', 'पवित्र ईर्ष्या' तथा 'आहुति' में भी एक पत्नी व बहू की विवशताओं को भली-भांति चित्रित किया है। 'पवित्र ईष्या' की 'विमला' जहाँ पति की आज्ञा के बिना राखी बांधने भी नहीं जा सकती, 'मंझली रानी' की 'तारा' कुलीन परिवारों की तथाकथित मर्यादा के कच्चे चिट्ठे खोलती है- 'शराब पीकर रंडियों की बाँह में बाँह डालकर टहलने से आदमियों की नाक नहीं कटती। गरीबों पर मनमाने जुल्म करने पर नाक नहीं कटती। नाक कटती है मेरे गाने से, सो अब मैं बाजे को कभी हाथ ही न लगाऊँगी।'[13]

दरअसल, विवाह से पूर्व जहाँ स्त्री के जीवन के निर्णय उसके माता-पिता लेते हैं तो ब्याह के बाद पति व उसका परिवार। विडम्बना तो यह है कि उसके गर्भ धारण करने का निर्णय भी अन्य सदस्य ही लेते हैं। 'चार बहनें शीशमहल की' (नासिरा शर्मा) कहानी की रेशमा को बार-बार गर्भ धारण करना पड़ता है क्योंकि उसकी सास को वंश चलाने के लिए पोता चाहिए था। विवाह के उपरांत लंबे समय तक गर्भ ना ठहरने पर तो परिवार के सदस्य यह ऐहसास कराने से भी नहीं चूकते कि उसका जीवन सार्थक नहीं हो पाया है। 'दादी-अम्मा' (कृष्णा सोबती) कहानी की मेहराँ को 'वे दिन नहीं भूलते जब ब्याह के बाद छह वर्षो तक उसकी गोद नहीं भरी थी। उठते-बैठते सास की गम्भीर कठोर दृष्टि उसकी समूची देह को टटोल जाती। रात को तकिए पर सिर डाले-डाले वह सोंचती कि पति के प्यार की छाया में लिपटे-लिपटे भी उसमें कुछ व्यर्थ हो गया है, असमर्थ हो गया है।'[14]

किसी कारणवश माँ ना बन पाने की स्थिति में तो नारी का जीना ही दूभर हो जाता है। परिवार वाले सारा दोष उसे ही देते हैं। मालती जोशी के उपन्यास 'पाषाण युग' की नीरजा को उसकी ननद उलाहना देती है-'भगवान का दिया इसके भी एकाध हो जाता तो गृहस्थी में मन भी लगता। अब तो क्या है, जैसे होटल, वैसे घर।'[15] 'ममता तू न गई मोरे मन तै' (मालती जोशी) कहानी की वंध्या नायिका खुद को पति की नज़रों में उपेक्षित पाती है।

हालांकि, अपने प्रति हो रहे दुर्व्यवहार के प्रति नारी अब सचेत होने लगी है। तभी तो 'तलघर में' (शशिप्रभा शास्त्री) कहानी की स्त्री प्रश्न उठाती है 'कौन जानता है, इसके लिए हम दोनों में से कौन जिम्मेदार है। इस बात के लिए सिर्फ, औरत को ही कसूरवार क्यों ठहराया जाता है।'[16]

नारी द्वारा प्रश्न करना उसकी चेतनता को दर्शाता है जो कि बहुत कुछ स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् बदले शैक्षणिक, सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण की देन है। इसका व्यापक प्रभाव परिवार पर भी पड़ा है। आर्थिक भागीदारी द्वारा स्त्री का दर्जा और महत्व दोनों ही परिवार में बढ़ा है तथा उसकी परम्परागत छवि में भी बदलाव आया है। इस बदलाव को भी स्वातंत्र्योत्तर महिला कथाकारों की रचनाओं में देखा जा सकता है। उषा प्रियंवदा की 'जिंदगी और गुलाब के फूल' इस दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कहानी है। कहानी में लेखिका ने स्पष्ट किया है कि एक कमाऊ स्त्री के प्रति ना केवल परिवार का नज़रिया बदल जाता है बल्कि स्वयं उसके व्यक्तित्व में भी अंतर आ जाता है।

नारी में आए इस बदलाव के संदर्भ में डॉ. ज्ञानवती अरोड़ा लिखती हैं- 'नौकरी ने लड़कियों को स्वावलंबी बनाया है। वे माता-पिता और छोटे भाई-बहनों की जब पालक बनी तो परिवार में उनका स्थान बदल गया। बेकार भाई की तुलना में कमाऊ बहिन का महत्व बढ़ गया। उसका व्यवहार बेकार भाई के प्रति बदलने लगा और माता-पिता ने भी इसे असंगत नहीं माना।'[17]

मंजुल भगत की कहानी 'निशा' भी बेटी के बढ़ते महत्व को स्वीकार करती है। तभी तो निशा की माँ निश्चिंत होकर कहती है-'तेरे पास ही रहूँगी, तू ही मेरे बुढ़ापे का आसरा है बेटे।'[18] उषा वर्मा ने तो इससे भी आगे बढ़कर 'मैं क्या बताऊँ' कहानी में नायिका द्वारा उसकी माँ को मुखाग्नि दिलवाई है। इस संबंध में नायिका का स्पष्ट व निर्भीक कथन है - 'क्या फर्क पड़ता है आग लड़का लगाए या लड़की? मैं यह अधिकार भी किसी और को क्यों देती? माँ तो मेरी थी।'[19]

इस तरह की रचनाएँ जहाँ एक ओर बेटे की श्रेष्ठता को नकारती हैं, वहीं स्त्री-पुरूष के बीच भेदभाव को प्रश्रय देने वाली व्यवस्था का विरोध भी करती हैं। यह विरोध कई बार पारिवारिक असंतुष्टि के रूप में भी व्यक्त हुआ है। इस असंतुष्टि के कारण ही 'नगर रसायन' (राजी सेठ) की पत्नी अपने पति के घर को नरक बताती है-'दो साल से पिता जी तक से मिलने जाना भी नहीं हो सका तो और कहाँ जाऊँगी--- पहले इस नरक से निकलना तो हो----'[20] 'उन दोनों के बीच' (राजी सेठ) कहानी की पत्नी अपने रोगी पति को और सहना नहीं चाहती। उधर 'अर्थान्तर' (चन्द्रकान्ता) की स्त्री अनुभव करती है 'मां ने शायद अपनी समझौतावादी प्रवृति से किसी समस्या को जन्म ही न लेने दिया, तभी इस मौन समझौते को स्वीकार नाम दे डाला। जिस स्वीकार में स्वतंत्र अस्तित्व को गिरवी रखकर रिश्ते निभाने की सजा भुगतनी पड़ती है।'[21]

इस तरह के वक्तव्य में आक्रोश की झलक साफ है। यह आक्रोश जब बढ़ा है तब लेखिकाओं ने परिवार के बाहर जाकर भी निर्णय दिये हैं। उपन्यास 'आवां' (चित्रा मुद्‌गल) की 'नमिता पांडे' अंत में परिवार में ना लौटकर किशोरीबाई के पास पहुँचती है। 'छिन्नमस्ता' (प्रभा खेतान) की 'प्रिया' अपने ससुर की अवैध

संतान को अपना कर परिवार से अलग रहती है। इन नारी-पात्रों के माध्यम से स्त्री-अस्मिता की खोज सराहनीय है परन्तु यह भी सत्य है कि परिवार के महत्व को पूरी तरह नकारा भी नहीं जा सकता। तभी तो नारी-मुक्ति की पुरजोर वकालत करने वाली कृष्ण ाा सोबती जैसी रचनाकर ने भी परिवार के पक्ष में निर्णय दिया है। उनके उपन्यास 'मित्रो मरजानी' की 'सुमित्रा' अंत में परिवार में ही लौट जाती है। 'शाल्मली' (नासिरा शर्मा) तथा 'माई' (गीतांजली श्री) उपन्यासों में भी परिवार को टूटने से लेखिकाओं ने बचाया है।

इस संदर्भ में डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी का मानना है कि 'महिला लेखन में परिवार के बाहर जाकर विकल्प इसलिए नहीं स्वीकारे गए हैं क्योंकि 'ऐसी स्थिति हमारे देश में अभी है नहीं' स्त्री लेखन में परिवार की ओर लौटना वे 'यथार्थ दृष्टि' मानते हैं, और 'अकेलेपन की पीड़ा के दंश को परिवार में मिलने वाले अपमान और यंत्रणा से अधिक गहरा स्वीकार करते हैं।'[22]

डॉ. त्रिपाठी के इस मन्तव्य से असहमत नहीं हुआ जा सकता। यूँ भी नारी यदि परिवार से बाहर जाकर अपनी अस्मिता तलाशेगी तो परिवार के बीच उसकी महत्ता नगण्य रह जायेगी। वास्तविक जीत तो तभी है जब नारी परिवार के भीतर अपने लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने में सफल होगी तथा बदलते हालातों को देखकर यह कहा जा सकता है कि भविष्य की स्त्री को यह सफलता अवश्य मिलेगी।

इस प्रकार द्रष्टव्य है कि भारतीय नारी का पारिवारिक परिवेश अत्यंत संकीर्ण मनोवृत्ति का पोषक रहा है जिसने बालपन से ही स्त्री की चेतना को दबाने का कार्य किया है। अधिकांश में नारी के प्रति परिवार का दृष्टिकोण दोयम दर्जे का रहा है जिस कारण वह पुरूष के समक्ष हीन एवं कमतर सिद्ध होती रही है। औरत की इच्छाओं को यहाँ कभी सम्मान नहीं मिला, ना ही उसकी स्वतंत्र विचार-दृष्टि तथा प्रगतिशीलता को पल्लवित होने का अवसर ही प्रदान किया गया। नारी की सामाजिक उन्नति की ओर कभी दृष्टि डाली ही नहीं गयी। विवाह के उपरांत पति व ससुराल वालों की सेवा करना तथा बच्चे पैदा करने को ही उसकी एक मात्र नियति मान ली गयी। इसी का नतीजा है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत जब भारतीय स्त्री को भी आधुनिक शिक्षा तथा संवैधानिक अधिकार प्राप्त हुए और उसे अपनी अस्मिता का बोध हुआ तो वह परिवार का विरोध करने लगी। यह विरोध भले ही व्यापक तौर पर दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु बरसों से सोई औरत की जागृत होती चेतना को अवश्य दर्शाता है । साथ ही नारी के प्रति निम्न दृष्टि रखने वाली पारिवारिक व्यवस्था के विरूद्ध अपनी नाराजगी तथा असंतुष्टि भी व्यक्त करता है जो कि महत्वपूर्ण है।

संदर्भ ग्रंथ

1. पृ0 143, स्त्री, परंपरा और आधुनिकता, सं. राजकिशोर वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, 2010 ।
2. पृ0 67-68, वही
3. पृ0 43, खुदा की वापसी, नासिरा शर्मा भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नयी दिल्ली, तीसरा संस्करण: 2001 ।
4. पृ0 399, आवां, चित्रा मुद्गल सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999 ।
5. पृ0 91, ऐ लड़की, कृष्णा सोबती राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली,1999 ।
6. पृ0 67, खुदा की वापसी, नासिरा शर्मा भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नयी दिल्ली, तीसरा संस्करण: 2001 ।
7. पृ0 70, हमको दिया परदेस, मृणाल पाण्डे राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,2001 ।
8. पृ0 101, नारी विमर्श : दशा और दिशा, सं. डॉ. एम. फिरोज खान, डॉ. शगु"ता आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाज़ियाबाद, प्रथम संस्करण 2010।
9. पृ0 66, खुदा की वापसी, नासिरा शर्मा भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नयी दिल्ली, तीसरा संस्करण: 2001 ।
10. पृ0 117, तीन लघु उपन्यास, ममता कालिया किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, 2011 ।
11. पृ0 49, उषादेवी मित्रा: युग और साहित्य, डॉ. पन्ना प्रकाशक: साहित्यसदन, कानपुर, प्रथम संस्करण : 1995।
12. पृ0 35, उषादेवी मित्रा: युग और साहित्य, डॉ. पन्ना प्रकाशक: साहित्यसदन, कानपुर, प्रथम संस्करण : 1995।
13. पृ0 115, नारी हृदय तथा अन्य कहानियाँ, सुभद्रा कुमारी चौहान आर्य प्रकाशन मंडल, गांधीनगर, दिल्ली, 2009।
14. पृ0 31, बादलों के घेरे, कृष्णा सोबती प्रकाशन प्रा0 लि0, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2007 ।
15. पृ0 98, पाषाण युग, मालती जोशी पराग प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा संस्करण 1978 ।
16. पृ0 71, महिला कथाकार: समाज शास्त्रीय एवं भाषिक संकल्पना, डॉ. कश्मीरी लाल भावना प्रकाशन, पटपड़गंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण:1994 ।
17. पृ0 134, साठोत्तरी हिन्दी लेखिकाओं की कहानियों में नारी, डॉ. सौ. मंगल कप्पीकेरे विकास प्रकाशन, बर्रा, कानपुर, प्रथम संस्करण, 2002 ।
18. पृ0 82, गुलमोहर के गुच्छे, मंजुल भगत भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण।
19. पृ0 148, षोडशी, उषा वर्मा सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण ा।
20. पृ0 93, महिला कथाकार: समाज शास्त्रीय एवं भाषिक संकल्पना, डॉ. कश्मीरी लाल भावना प्रकाशन, पटपड़गंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण:1994 ।
21. पृ0 122, वही
22. पृ0 190, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, रेखा कस्तवार राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, दूसरा संस्करण:2009।

◆◆◆